



ISSN Print: 2394-7500  
ISSN Online: 2394-5869  
Impact Factor: 3.4  
IJAR 2015; 1(2): 199-201  
[www.allresearchjournal.com](http://www.allresearchjournal.com)  
Received: 12-11-2014  
Accepted: 15-12-2014

**डॉ. तीर्थानन्द मिश्र**

व्याख्याता, राजकीय मीरा कन्या  
महाविद्यालय, उदयपुर, राजस्थान,  
भारत

## रसादिध्वनि व अलंकार

### डॉ. तीर्थानन्द मिश्र

#### प्रस्तावना

ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन रसादि को काव्य की आत्मा तथा अन्य सभी तत्त्वों को रसानुरूप होने के प्रबल समर्थक हैं। भामहादि आचार्यों की भाँति ध्वनिकार भी शब्दालंकार तथा अर्थालंकार की सत्ता स्वीकार करते हैं। अलंकारों के प्रकार को आनन्दवर्धन अनन्त मानते हैं, क्योंकि इनके अनुसार अलंकार वाणी के विकल्प पर आधारित होते हैं। अलंकारों की महत्ता को स्वीकार करते हुए ये ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य तथा चित्र इन तीनों प्रकार के ध्वनि में जब अलंकार प्रधान होता है, तो वस्तुतः उसके अलंकार न होने पर भी ब्राह्मणश्रमण न्याय से अलंकारध्वनि व्यपदेश किया जाता है। गुणी भूतव्यंग्यता तो ध्वनिकार के मत में सभी अलंकारों की होती ही है जबकि चित्रकाव्य में अलंकार की अक्षुण्णता भली –भाँति दृष्टिगोचर होती है।

आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य में रसादि अंगी होते हैं जबकि अलंकार रसादि के अंग होते हैं। काव्य में रसादि के प्रधान रूप से वर्णित होने पर रसादि ध्वनि होती है। अलंकारों का अलंकारत्व रसादि के ऊपर निर्भर होता है। परन्तु रसों का अलंकारों के साथ अंगांगिभाव सर्वदैव नहीं होता है। अलंकारों का अलंकारत्व तभी सिद्ध होता है जब वे ध्वनि में अर्थात् रसावबोध में सहायक होता है। सर्वप्रथम शब्दालंकारों के ऊपर ही यदि विचार किया जाय तो आनन्दवर्धन के पूर्व अनुप्रास, यमक एवं शब्दलेश तथा चित्रादि शब्दालंकार माने जाते रहे। अनुप्रास अलंकार जिसका स्फुट विवेचन भामह के काव्यालंकार में प्राप्त होता है, के विषय में भामह का मानना है कि इसके प्रयोग से वाणी में चारुता आती है—

नानार्थवन्तोऽनुप्रासा न चाप्यसदृशाक्षराः ।

युक्त्यानया मध्यमया जायन्ते चारवो गिरः ॥ काव्यालंकार – 2/7

भामह के बाद दण्डी ने अनुप्रास का विवेचन करते हुए लिखा है कि रसवत् वाक्य को मधुर कहा जाता है। फलतः रस तथा माधुर्य एक ही वस्तु है। शब्द तथा अर्थ दोनों व्यंजकतया रस के होने से 'रसव्यंजकवर्णरचनाशालित्व' या 'रसव्यंजककार्यशालित्व' ही माधुर्य का लक्षण सिद्ध होता है। उक्त स्वरूप वाला माधुर्य अनुप्रास पर आधारित होता है। वाकगत माधुर्य श्रुत्यनुप्रास पर एवं वस्तुगत माधुर्य वर्णानुप्रास पर आधारित होते हैं। इस प्रकार दण्डी के अनुसार यही स्पष्ट होता है कि अनुप्रास सर्वदैव रसावह होते हैं, क्योंकि माधुर्य में अनुप्रास होता है—

यया कयाच्छ्रुत्या यत्समानमनुभूयते ।

तद्रूपा हि पदासक्तिः सानुप्रासा रसावहा ॥ काव्यादर्श 1/52

उद्भट भी अनुप्रास के सन्दर्भ में दण्डी का ही अनुकरण करते हैं। आनन्दवर्धन भी अनुप्रास की रसादिव्यजना को स्वीकार करते हैं, परन्तु उसके एकाकी रूप से निरन्तर प्रयोग को वे ठीक नहीं मानते हैं। उनके अनुसार अंगी श्रृंगार के सभी प्रभेदों में यत्नपूर्वक एक प्रकार से निरन्तर निबद्ध अनुप्रास रस का अभिव्यंजक नहीं होता है, परन्तु यदि निबन्धन विचित्र प्रकार का हो तो ऐसे अनुप्रास का निबन्धन सदोष नहीं होता है। इस तरह आनन्दवर्धन के अनुसार यह स्पष्ट है कि अनुप्रास का अतिप्रयोग ही श्रृंगार में दोषपूर्ण होता है, सामान्य प्रयोग रस का व्यंजक ही होता है—

श्रृंगारस्यांगिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान् ।

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥ ध्वन्या. – 2/14

**Corresponding Author:**

**डॉ. तीर्थानन्द मिश्र**

व्याख्याता, राजकीय मीरा कन्या  
महाविद्यालय, उदयपुर, राजस्थान,  
भारत

यमक अलंकार का विवेचन भरत से लेकर प्रायः सभी आलंकारिकों ने किया है, परन्तु इसके काठिन्य की ओर किसी का भी ध्यान नहीं गया, इसी कारण दण्डी ने यमक को 'नैकान्तमधुरम्' कहा है। अर्थात् काव्य में अनुप्रास जिस प्रकार रसावह होता है उस तरह की स्थिति यमक की नहीं होती है। सहृदय आलोचक इसे सर्वदैव त्याज्य मानते रहे हैं। इसी अनुपयुक्तता को ध्यान में रखते हुए आचार्य आनन्दवर्धन ने श्रृंगार में यमक के प्रयोग को अनुचित माना है। श्रृंगार रस में भी विशेषकर विप्रलम्भ श्रृंगार में रस की व्यंजना में ध्वनिकार ने यमकादि का निबन्धन कवि के प्रमादित्व का सूचक माना है—

ध्वन्यात्मभूते श्रृंगारे यमकादिनिबन्धनम्।  
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः।। ध्वन्या. — 2/15

विप्रलम्भ सभी रसों से अधिक मधुर अर्थात् सुकुमार होता है, अतः इसमें जरा भी अनवधानता आनन्द को मिटा देने वाली होती है। इस कारण विप्रलम्भ श्रृंगार में कवि को किसी भी प्रकार बौद्धिक व्यायाम नहीं करना चाहिए। इसी का प्रतिपादन ध्वनिकार ने यह कहकर किया है कि विप्रलम्भ श्रृंगार जब अंगी हो तो यमकादि का अंग रूप से भी निबन्धन नियमतः नहीं करना चाहिए—

ध्वनेरात्मभूतः श्रृंगारस्तात्पर्येण वाच्य— वाचकाभ्यां  
प्रकाशयमानस्तस्मिन्  
यमकादीनां..... शक्तावपि प्रमादित्वम्। ध्वन्या. 2/15  
वृत्तिभाग

ध्वनि में अलंकारों के प्रयोग की यह कसौटी है कि जिस अलंकार की रचना रसाक्षिप्त रूप में हो रही हो और उसी समय जो नान्तरिकतया अर्थात् बिना किसी प्रकार के यत्न के निष्पन्न हो उसी का ध्वनि में प्रयोग करना चाहिए। इस तरह रस में अलंकारों के प्रयोग के सम्बन्ध में चार नियम दृढ़ होते हैं—

1. अलंकार सदा रसाभिव्यंजन में समर्थ हो
2. रसाभिव्यंजना के समय ही अनायास अलंकार की उत्पत्ति हो
3. वह स्वाभाविक व आसान ढंग से उपस्थित किया जा सके तथा
4. उस अलंकार के निष्पादनार्थ कवि को अलग से प्रयास न करना पड़े। इस प्रकार ध्वनिकार के मत में केवल उसी अलंकार की ध्वनि में रसांगता होती है जिसकी निष्पत्ति स्वयमेव हो जाती है—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।  
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः।। ध्वन्या.— 2/16

आशय यह है कि कवि रसनिष्पत्ति के लिए जो प्रयास करता है, उसी प्रयत्न के द्वारा अलंकार की निष्पत्ति हो जाती है तो वह अलंकार रस का अंग हो सकता है। अतः रसांगता के लिए अलंकार का 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्व' ही लक्षण है। जहाँ तक यमक की रसांगता का प्रश्न है तो यह स्पष्ट है कि यमक का बुद्धिपूर्वक निबन्धन करने हेतु नियमतः पृथक् रूप से यत्न अवश्य करना पड़ता है। यमक का प्रयोग श्रृंगार रस में ही केवल विघ्नकारक नहीं होता अपितु वीर, अद्भुत आदि रसों में भी रसविघ्नकारक ही होता है, अतः वीर अद्भुत जैसे रसों में भी इसका प्रयोग उचित नहीं है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यह स्थिति तो अन्य अलंकारों में भी हो सकती है, तब किसी भी अलंकार को रस का अंग नहीं कहा जा सकता है? इस विषय में ध्वनिकार का मानना है कि अन्य अलंकार प्रतिभाशाली कवि के द्वारा रसमय रचना करते समय अनायास उत्पन्न होते हैं, उनके लिए कवि को पृथक् रूप से यत्न नहीं करना पड़ता है, रस के अंग हो सकते हैं।

इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने हेतु ध्वनिकार ने बाणभट्टरचित कादम्बरी का उदाहरण प्रस्तुत किया है जहाँ कादम्बरी के दर्शन के अवसर पर उत्प्रेक्षादि अनेक अलंकार स्वतः उपस्थित हुए हैं, जो रस के उपकारक भी हैं। अलंकारों का इस प्रकार स्वतः उद्भावना उचित भी है, क्योंकि रसों की अभिव्यक्ति वाच्यविशेष से होती है। रूपकादि अलंकार भी रस प्रतिपादक शब्दों के द्वारा प्रकाशित होने वाले विशेष प्रकार के वाच्य ही हैं। अतः इस प्रकार के अलंकार रसाभिव्यक्ति में वहिरंग कदापि नहीं हो सकते। इस तरह ध्वनिकार ने अलंकारों की अन्तरंगता प्रतिपादित कर इसके महत्त्व को और अधिक बढ़ा दिया है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यमकादि की रसाभिव्यक्ति में वहिरंगता होती है और रूपकादि की अन्तरंगता। ध्वनिकार को रसाभिव्यंजना के समय अलंकार की बहिरंगता कदापि मान्य नहीं है। इसी का प्रतिपादन ध्वनिकार ने 'रसवन्ति हि वस्तूनि सालंकाराणि कानिचित्..... इत्यादि श्लोक संग्रह में किया है।

यद्यपि रूपकादि अर्थालंकार रस की प्रतीति में अंतरंग होते हैं तथापि इनका भी प्रयोग सर्वदैव रसावह नहीं होता है। आनन्दवर्धन के पूर्व अलंकारों के प्रयोग सम्बन्धी कोई नियम नहीं था। आचार्यगण अलंकार प्रयोग को उचित मानते थे। परन्तु ध्वनिकार ने वाच्य अलंकारों के प्रयोग हेतु यह व्यवस्था दी कि रसौचित्यपूर्वक अलंकारों का प्रयोग ही शोभावर्धक होता है अर्थात् आत्मभूत श्रृंगार में यदि विचार पूर्वक रूपकादि अलंकार का प्रयोग किया जाय तो वे अलंकार वास्तव में चारुत्वहेतुता को प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार प्राणहीन शवशरीर कटक कुण्डल आदि से युक्त होने पर भी शोभित नहीं होता, क्योंकि वहाँ अलंकार्य नहीं होता। अलंकार्य आत्मा ही होता है, क्योंकि अलंकारों से सुसज्जित होने पर भी यह प्रतीत होती है कि 'मैं अलंकृत हूँ'। यह प्रतीति नहीं होती है कि मेरा शरीर 'अलंकृत' है। 'मैं अलंकृत हूँ' इस वाक्य में 'मैं' आत्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी का प्रतिपादन करते हुए लोचन टीका में कहा गया है—

अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतामपि न भाति  
अलंकार्यस्याभावात्.....वस्तुतः आत्मैवालंकार्यः अहमलंकृतः  
इत्यभिमानात्। ध्व.लोचन पृ. 209

इस प्रकार लोक में भी यह देखा जाता है कि अलंकार वस्तुतः आत्मा के होते हैं। इसी औचित्य के ऊपर अलंकारों की शोभाजनकता निर्भर करती है। आत्मा के अभाव एवं अनौचित्य दोनों ही अवस्थाओं में वह चारुता निष्पादक न होने से अलंकार नहीं कहा जायेगा।

इसी प्रकार उपमा आदि से यद्यपि वाच्य अर्थ अलंकृत किया जाता है फिर भी उसका अलंकरण उसके व्यंग्य अर्थ के अभिव्यंजन के सामर्थ्य का कथन ही है। यह अलंकार्य रसवदादि एवं उपमादि सभी अलंकारों का होता है। इससे यह निश्चित होता है कि अलंकारों का अलंकारत्व रसभावादि के ऊपर ही निर्भर करता है। औचित्य ही अलंकार का प्राण है। क्षेमेन्द्र ने इसी औचित्य के महत्त्व को देखकर औचित्य के बिना अलंकार को अलंकार ही नहीं माना है। अलंकारों का यह औचित्य रस की दृष्टि से ही देखा जाता है। रसाभिव्यक्ति के औचित्य के अनुसार अलंकारों का विवेचन होना चाहिए। आचार्य आनन्दवर्धन ने इसका सर्वप्रथम सुस्पष्ट विवेचन करके साहित्य शास्त्र को एक नयी दिशा प्रदान की है जिसका अनुसरण परवर्ती आचार्यों के द्वारा किया गया है।

### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अलंकार मीमांसा — मोतीलाल बनारसीदास पटना— 1965
2. अलंकारों का स्वरूप व विकास— नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली —1973

3. काव्यादर्श – वी. रामास्वामी एण्ड सन्स 1952
4. काव्यालंकार – काशी संस्कृत सीरिज, वाराणसी – 1928
5. औचित्यविचारचर्चा – चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी 1992
6. ध्वन्यालोक – विश्व विद्यालय प्रकाशन, वाराणसी – 1989
7. संस्कृत काव्याशास्त्र का इतिहास – बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी – 1973
8. काव्यप्रकाश – ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी – 1966